# नारी संवेदना का स्वरूप तथा पृष्ठभूमि

जो सृजन का आधार बन सकती है, वहीं सृष्टि के विनाश का कारण भी तो बन सकती है । इस सत्य को जानते हुए भी हमारा समाज इसे नकार रहा है । भारतवर्ष को हम 'भारतमाता' कहकर पुकारते है; लेकिन इसी भारत भूमि में स्त्री बार-बार तिरष्कृत होती है, अपमानित होती है, उसके आत्मसम्मान का हनन किया जाता है । अरविंद जैन का मत इस यहाँ उल्लेखनीय है, "पिछले दो दशकों में (भारत में) हजारों समाजसेवी संस्थाओं की स्थापना, गोष्ठी, सेमिनार और अरबों रुपए की सरकारी, गैर- सरकारी, देशी-विदेशी मदद, अनुदान और योजनाओं का कुल परिणाम क्या है ? क्या भारतीय समाज में आम औरतों की स्थिति में कोई गुणात्मक सार्थक बदलाव आ पाया ? इस दौरान है कोई राष्ट्रीय-प्रांतीय स्तर का बड़ा नारी आंदोलन ? आम भारतीय औरतों (विशेषकर ग्रामीण) की हालत हर जगह पहले से बदतर हुई है ।"[1] भारत की ग्रामीण स्त्री की स्थिति को देखकर भला कौन कहेगा कि भारत की स्त्री आज आजाद है !! गाँव ही नहीं बल्कि शहरों में भी स्थिति वहीं है...केवल कुछ गिने- चुने ही ऐसे हैं, जिन्हें अपने अधिकार प्राप्त हुए हैं । आज भी जो सड़कों पर अकेली घूम नहीं सकती हैं, अपने जीवन के फैसले लेने का जिनको अब भी कोई अधिकार नहीं हैं, जिसे अब भी भारत के भिन्न कोनों में गर्भ में ही मार दिया जाता हैं...क्या वह आजाद हैं? आजादी की परिभाषा केवल कागज के पन्नों पर लिखी काले अक्षरों की है, वास्तविकता तो खैर कुछ और है...जिससे आप, मैं, हम सब अच्छे से वाकिफ़ हैं । इस संदर्भ में मैत्रेयी पुष्पा का कथन उल्लेखनीय है, "महिलाओं के उद्धार की असली तस्वीर कोई महिला ही पेश कर दे तो तस्वीर दागदार हो जाएगी, तब महत्त्व सिकुड़ने लगेगा । औरत का न बोलना कितना लाभदायक है कि कोई चाहे जैसे निर्णय ले सकता है, नियम कानून बना सकता है, अपनी क्षमता को कई गुना बढ़ाकर दिखा सकता है ।"[2]

## 1.1. संवेदना एवं नारी संवेदना का तात्पर्य एवं स्वरूप विचार:

संवेदना का कोशगत अर्थ कुछ इस प्रकार निकलता हैं- अनुभूति, सहानुभूति (जैसे हार्दिक संवेदना), समवेदना प्रकट करने का भाव , दुःख की अनुभूति आदि । उधर अंग्रेजी शब्दकोश में 'Sensitivity' को संवेदना का पर्यायवाची माना गया है । 'Sensitivity' यानि महसूस करना, किसी बात की अनुभूति होना इत्यादि । अर्थात 'संवेदना' का आशय यह माना जा सकता है कि किसी वस्तु, व्यक्ति या घटना के प्रति अनुभूतिशील होना, उसको महसूस करना । उस दर्द या दुःख को समझना, इत्यादि । प्रायः यह शब्द 'दुःख की अनुभूति' से ही जुड़ा हुआ होता है । यदि किसी व्यक्ति या जीव के दुःख को कोई अपना समझकर उसे महसूस करने में सफल होता है, तब उसे हम 'संवेदनशील' कहते हैं, जिसमें प्रस्तुत घटना या व्यक्ति को समझने एवं अनुभव करने की क्षमता होती है । 'नारी संवेदना' शब्द 'संवेदना' के मूल अर्थ को वहन करते हुए उसे थोड़ा संक्षिप्त कर देता है । जैसे कि यहाँ संवेदना अन्य सभी विधाओं से हटकर केवल नारी पर ही केद्रित है । नारी के अन्तर्मन की अनुभूतियाँ तथा उन अनुभूतिओं के गहनतम रूप को ही नारी संवेदना का मूल आशय माना जा सकता है ।

नारी सृजन की शक्ति है, सृष्टि का आधार है । वह जिस रूप में चाहे अपनी शक्ति का प्रयोग कर सकती है । वह एक ममत्वमयी माँ के रूप में हो या फिर चाहे आदि शक्ति के ही रूप में ही क्यों न हो ! हर क्षेत्र में वह अपनी ऊर्जा बिखेरती प्रतीत होती है । हाँ, यह अलग बात है कि अपना स्वतंत्र अस्तित्व रहने के वावजूद भी आजतक समाज में नारी को अपना सही स्थान प्राप्त नहीं हुआ भी उसे अपनी अस्मिता की लड़नी पड़ रही है । नारी समाज का अभिन्न अंग है; यह समाज का आधा हिस्सा है । बिना नारी के पुरुषों के संसार की कल्पना कोई नहीं कर सकता हैं । जगदीश्वर चतुर्वेदी जी कहते है , "स्त्री समाज की मुख्य धारा का आधा आकाश है, आधा यथार्थ है तो उसका हर चीज, हर विचार, प्रत्येक सृजन रूप एवं संस्थागत रूपों में बराबर

का हक भी बनता है । स्त्री की  उपेक्षा वस्तुतः आधे यथार्थ की स्वीकृति है, यह खंडित यथार्थ, यह ऐसा यथार्थ है जो अवास्तविक है ।"[3]

प्रकृति ने नारी को कुछ विशेष अंलकारों से विभूषित किया है, पुरुषों की तुलना में नारियों में कई गुण एवं विशेषतायें अधिक होती है । पुरुष को भले ही बल और साहस के क्षेत्र में हमेशा आगे माना गया है, परंतु संवेदनाओं और भावनाओं की तीव्रता सदेव नारी में ही अधिक विद्यमान रही है और  रहेगी । प्रकृति ने ये गुण उसे नैसर्गिक रूप से प्रदान किया है । नारी की संवेदनशक्ति इतनी तेज़ होती है कि उनकी आखों से कुछ नहीं छिपता; वह किसी भी झूठ एवं बहानेबाजी को पल भर में पकड़ लेती है । उनकी गहन संवेदना के कारण उनकी अर्न्तदृष्टि विकसित होती है । यही संवेदना उसके चिंतन का विचार का मूल आधार है । आज जो स्त्री-विमर्श लोगों के सामने आया है, वह भी इसी चिंतन का परिणाम है, जहाँ नारी ने अपनी संवेदनाओं के साथ साथ बाकी सभी की व्यथाओं को भी उजागर किया है । इस विषय पर चर्चा करते हुये चतुर्वेदी जी ने इस प्रकार अपना भाव व्यक्त किया है, "स्त्री के व्यक्तित्व, मन एवं व्यवहार की अनेक पर्ते होती हैं, कौन सी पर्त किस अवस्था को व्यक्त करती , यह बात पुस्तकीय ज्ञान से समझ में  आने वाली नहीं है । स्त्री जगत का यथार्थ रूप में बारीकि से किया गया अध्ययन ही इसमें बुनियादी रूप से मदद कर सकता है । स्त्री अनुभूति और एवं व्यवहार में से चुनने का प्रश्न हो तो अनुभूतिओं को चुना जाना चाहिए। अनुभूतियाँ ही उनके वास्तव मन को उद्घाटित करती हैं । यही वजह है कि स्त्रीवादी आलोचना ने अनुभूति की प्रामाणिक अभिव्यक्ति को ही स्त्री साहित्य का बुनियादी तत्व माना ।"[4] सच तो यही है कि नारी की अनुभूति ही उसकी जीवन की  झलक होती है,  क्योंकि वह अत्यंत संवेदनशील होती हैं ।

1.2. नारी संवेदना की पृष्ठभूमि:

समस्या यह नहीं है कि अपनी स्वतंत्रता का प्रयोग करके नारी सफल हो पायी है या नहीं; बल्कि समस्या यहाँ यह है कि इन तमाम कोशिशों के चलते समाज व लोगों तक नारी मन

की अनुभूतियाँ पहुँची है या नहीं ? उनकी समस्याओं को सुलझाने के लिए उनके मन की संवेदनाओं को पहले समझना होगा, अन्यथा न्याय नहीं हो पाएगा; यें तमाम कोशिशें अधूरी ही रह जाएंगी । उनके कोमल चेहरों के पीछे छिपे हुए दर्द को समझना अत्यंत आवश्यक है और इसे सही रूप में समझने के लिए नारी के मन में झाँकना होगा । यूँही ऊपर ही ऊपर सहानुभूति व्यक्त करने से उनका दर्द कम नहीं हो जाएगा । बीसवीं शताब्दी में जहाँ यह प्रचार किया गया है कि "नारी को समान अधिकार दिया गया है-" जगह-जगह नारीमुक्ति के नारें लगाए जा रहे हैं ; तो फिर आए दिन क्यों वही कीड़े- मकड़ों की तरह नारी को कुंचल दिया जा रहा हैं । यदि कोई सशक्त स्त्री दूसरी पीड़ित स्त्री की मदद करना चाहे तो पुरुष प्रधान समाज उस स्त्री को बर्बाद करने पर तुले हुए होते हैं । कुछ ही वर्ष पूर्व आफ़गानिस्थान के उग्रवादियों ने बंगाल की एक प्रसिद्ध लेखिका 'सुस्मिता बेनेर्जी' की हत्या कर दी । उनका क़सूर बस यही था कि उन्होंने अपने उपन्यास 'कावुलिवालार वाङाली बऊ' में एकदम निडर होकर आफ़गानिस्थान की पीड़ित स्त्रियों के दुःखों का सशक्त एवं मार्मिक वर्णन किया था और अपनी अगली परिकल्पना के तथ्य संग्रह हेतु आफ़गानिस्थान में थी । अबकी बार उनका उद्देश्य था-तमाम सच्चाईयों को उभारना; उन स्त्रिओं तक पंहुचना जिनके घाव और अधिक गहरे हैं । परंतु अफ़सोस कि उनके वहाँ तक पहुँचने के पहले ही उन्हें हमेशा हमेशा के लिए रोक दिया गया । 5 सितंबर 2013 को 'सुस्मिता' को अफ़गान शहर के बीचों बीच तालिवानों द्वारा 25 गोलियों से बेरहमी से रौंद दिया गया । जबाब में कहा गया कि वे भारत के खुफ़िया अजेंट थी । सुस्मिता जी अपने पति के साथ अफ़गानिस्थान में ही रहती थी । उनके पति अफ़गानी थे, उनका प्रेम-विवाह हुआ था । एक वह आवाज़ जो उन पीड़ित नारियों के उज्ज्वल भविष्य के लिए उठ रही थी, उसे हमेशा के लिए खामोश कर दिया गया ।

आख़िर क्यों ? नारी की काविलियत पर, उसके चरित्र पर हर बार शक किया जा रहा हैं या फिर स्वतंत्र रूप से उसे आगे बढ़ते देख किसी को (?) जलन हो रही है !! आज भी एक सफल और महत्वाकांक्षी स्त्री को संदेहभरी निगाहों से देखा जाता हैं, लोग मुक्तमन से उसकी प्रशंसा

करने में हिचकिचाते हैं । परंतु यही बात अगर पुरुषों पर लागू होती, तब स्थिति कुछ और ही होती...बात यहाँ सफलता या प्रशंसा की नहीं है, बात है उसकी अस्मिता की, उसके आत्मसम्मान की, उसकी अनुभूतियों की ...और मानव होने के नाते संसार के हर मानव के मन में ये सारी बातें शुरू से ही विद्यमान होती हैं । तो फिर सदियों से केवल स्त्री को ही क्यों इनसे वंचित किया जा रहा  हैं? बिना स्त्री के इस संसार की हालत का अंदाज़ा शायद ही कोई लगा पायेगा? स्त्री को केवल भोग की नजरिए से देखना बंध करना होगा, इन्हें सहयोगी बनाकर चलने से ही समाज की र्वागीन उन्नति संभव हो सकती है । आदम और ईभ के बारें में कहा जाता है कि ईश्वर ने पहले आदम की सृष्टि की थी, फिर उसकी तनहायियों को भरने के लिए तथा उसकी कमियों को पूरा करने के लिए ईभ का निर्माण हुआ । कही कही तो यह माना जाता है कि आदम के सिने की हड्डी से ईभ की उत्पत्ति हुई है । इन समस्त बातों से यही प्रतीत होता है कि आदम श्रेष्ठ एवं प्रमुख है और ईभ गौण एवं उनका अंश है । संसार की प्रायः सभी सभ्यताओं की  यही मान्यता रही हैं । लेकिन विज्ञान ने कभी यह नहीं कहा कि पुरुष की उत्पत्ति पहले हुई है कि नारी की, विज्ञान ने बस इतना कहा था कि 'एककोषी' जीव की उत्पत्ति के बाद 'बहुकोषी' जीव की उत्पत्ति हुई है । जिसमें इंसान भी शामिल है । खैर, यहाँ सोचने वाली बात यह है कि- विविध सभ्यताओं ने  क्यों आदम को ही पहले माना है, ईभ को क्यों नहीं ?  शायद इसलिए क्योंकि संसार के प्रायः सभी इतिहास तथा धर्मग्रंथों में, जहाँ इन सब बातों का उल्लेख मिलता हैं ; उन सभी के स्रष्टा संसार के विविध विद्वान पुरुषगण हैं । कभी भी कही भी स्त्री ने ऐसे ग्रन्थों की रचना नहीं की (?), अर्थात उनको लिखने का अवसर प्राप्त ही नहीं हुआ । अगर रचयिता स्त्री होती तो स्थिति शायद कुछ और ही होती । और तब शायद ग्रन्थों में ईभ का नाम आदम से पहले आती !! गौरतलब यह है कि अगर समाज में पहले से ही नारी को समान रूप से अधिकार दिया गया होता तो आज पूरे संसार में नारी का स्थान कुछ और ही होता !!

'नारी संवेदना' को मुख्य विषय बनाकर साहित्य में प्रयोग करने की परंपरा काफी देर से शुरू हुई । पहले नारी ले मनोभावों को मुख्य विषय बनाकर उपन्यास, कहानी आदि नहीं लिखे

जाते थे, तब तो बस उसे दया और सहानुभूति की नज़रों से देखा जाता था । इतिहास में स्त्री को भोग की सामग्री से ऊपर उठकर देखने की कोशिश तो बहुत देर से की गई; अधिकार, सम्मान आदि तो बहुत दूर की बात है । जो कुछ भी हो, अब विचारणीय प्रसंग यह है कि नारी इतनी प्रासंगिक कब से बननी लगी..? भारतीय समाज में नारी को देवी मानकर पूजते हैं , और बाद में उसी नारी को धरती पर लाकर उसपर अमानुषिक अत्याचार किए जाते हैं । क्या यही है नारी का समुचित स्थान ?? आवाज़उठाना तो दूर की बात है,कुछ समय पूर्व तक उसकी हालत पर ऊफ़ तक करनेवालों की कमी थी । खैर, जो भी हो आज स्थिति में सुधार की संभावना है, कम मात्र में ही सही, पर कुछ आवाज़े उठ रही हैं और अल्पसंख्यक उसका समर्थन भी कर रही हैं । 'नारीवाद' की परंपरा पश्चिम से बहकर भारतीय समाज तथा साहित्य में आयी । उसके बाद देखते ही देखते वह पूरे विश्व के साथ साथ समग्र भारत में फैल गई । बंगाली साहित्य के साथ साथ हिन्दी, असमीया आदि साहित्यों में भी इसका प्रवेश होने लगा ।

1.2.1. पाश्चात्य पृष्ठभूमि:

नारीवाद के प्रचलन के पश्चात ही समाज व साहित्य में 'नारी संवेदना'-एक मूल विषय के रूप में उभरकर आने लगी । प्राचीन समय में यूरोप आदि उन्नत देशों में भी नारी स्थिति नाज़ुक थी, पुरुष हमेशा स्त्री को अपने से नीचे समझते थे, उसका मन मर्ज़ी भोग करते थे । वाइवेल के अनुसार ईश्वर ने धूल के कणों से 'आडम' की सृष्टि की, फिर आडम की निसंगता दूर करने के लिए आडम के सिने की हड्डी से 'इभ' का निर्माण हुआ है । उसी प्रकार देखा जा सकता है कि 'मेन' (man) से निकली 'व'मेन' (Woman), जी 'Out of man' यानिकी 'मेन' से निकला हुआ सूचित करता है । संस्कृत में जिस प्रकार स्वामी का अर्थ किसी संपत्ति के हकदार होने के साथ साथ 'स्त्री' का भी हकदार होता है, अर्थात 'स्त्री' भी उन्हीं की संपत्ति होती है और उनपर अधिकार 'स्वामी' का होता है । उसी प्रकार अंग्रेजी में 'हसबेंड' (Husband) शब्द 'गृहस्वामी' (Lord of the house) का द्योतक है । ईसाई धर्म में भी स्त्री-पुरुष को समान दृष्टि

से नहीं देखने के कारण केवल 'पुरुष' को ही सम्पूर्ण घर का एकमात्र अधिकारी माना जाता है । यूरोप आदि देशों में नारीवाद के जागरण के समय दो मूल वस्तुओं पर ज्यादा ध्यान दिया गया था, वे हैं – आर्थिक स्वतंत्रता और मतदान का अधिकार । सबसे पहले नारी के आर्थिक स्वतंत्रता पर बल दिया गया था और उसके बाद राजनैतिक अधिकारों की मांग की गयी थी । 'लिब्रल फेमिनिजिम ने इन्हीं दो बातों पर प्रकाश डाला था, जो नारी मुक्ति आंदोलन का पहला पड़ाव माना जाता है। रोज़मारी टोंग (Rosemarie Tong) का मानना है कि, " Liberal feminists wish to free women from oppressive gender roles that is, from those roles used as excuses or justifications for giving women a lesser place, or no place at all, in the academy, the forum, and the market places ." [5] इंगलेंड के मेरी उलष्टनक्राफ्ट ( Mary Wollstonecraft) का नाम समग्र पृथ्वी के नारी जागरण के इतिहास के लिए एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण माना जाता है । कहा जाता है कि उन्होंने अकले ही पुरुष साम्राज्य के आधिपत्य तथा अहंकार को ललकारा था । वे सच्चे अर्थ में 'वीरांगना' थी । सं॰ 1792 में A Vindication of the Right of Woman नामक ग्रंथ को लिखकर 'मेरी उलष्टनक्राफ्ट' ने विश्व में हलचल उत्पन्न कर दिया था । प्रस्तुत ग्रंथ में नारी के आत्म-विकास में जिन भावों का उजागर किया गया है, वह अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना जाता है; इसीलिए यह उनकी तथा नारी जागरण के इतिहास के लिए 'अमर' ग्रंथ बनकर रह गया । उन्होंने परंपरागत मान्यताओं को मानने से इंकार किया था । अपने पति 'गडविन' को लिखी जाने वाली एक पत्र में यह कहा है कि, "..... for at fifteen I resolved never to marry for interested motives, or to endure a life of dependence". [6] रूसो के स्त्री-शिक्षा के मान्यताओं में भी परोक्ष रूप में नारी को पुरुष के समान श्रेणी में नहीं रखा गया था । उलष्टनक्राफ्ट ने रूसो के मत का तीव्र विरोध करते हुये स्पष्ट रूप में कहा है कि, "I have probably had an opportunity of observing more girls in their infancy than J.J. Rousseau. …… I will venture to affirm that a girl, whose spirits have not been damped by false shame, will always be a ramp".[7] उन्होंने सन 1792 में नारी के मतदान के हक में सबसे पहले आवाज़ उठायी। परंतु बहुत से आंदोलन आदि के उपरांत भी नारी को मतदान का

अधिकार नहीं मिल रहा था; प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात सं॰ 1918 में 30 वर्ष से ऊपर के महिलाओं को मतदान का अधिकार प्राप्त हुआ । अंत में 1928 में पुरुष-महिला के बीच के सभी वैषम्य को हटाकर मतदान का अधिकार प्रदान किया गया । सन 1920 में अमरिका में नारी को मतदान का अधिकार प्राप्त हुआ । धीरे धीरे यह आंदोलन व्यापक होता चला गया और साथ ही इनके अनेक शाखाएँ भी उभरने लगी । जिनको क्रमशः द्वितीय और तृतीय चरण माना गया हैं । जो कुछ इस प्रकार हैं-

प्रथम चरण: Liberal Feminism ( लिबेरलफेमिनिज़्म)

द्वितीय चरण: Radical Feminism (रेडिकल फेमिनिज़्म), Marxist and Socialistic Feminism (मार्कसिस्टऔर सोसियल फेमिनिज़्म), psychoanalytic Feminism (साइकोअनालाइटिक फेमिनिज़्म), Care-focused Feminism (केयार फ़ोकास्ट फेमिनिज़्म), Multicultural, Global and Postcolonial (माल्टीकल्सरेल, ग्लोबल और पोस्टकोलोनियल फेमिनिज़्म ), Eco Feminism (इकोफेमिनिज़्म )

तृतीय चरण: Post-modern and Third wave Feminism (पोस्ट-मॉडर्न और फेमिनिज़्म का तृतीय उत्थान)

इस आंदोलन के प्रथम चरण की शुरुवात 19वी शती के प्रारम्भ से माना जाता है । इसका समय 19वी शती के प्रारम्भ से लेकर 20वी शती के प्रारम्भ तक माना जाता है । जहाँ महिलाओं पर हो रहें अत्याचारों, शोषण आदि को रोकने के लिए तथा उनके मौलिक अधिकारों की मांग की गयी थी । इस आन्दोलन में मुख्य रूप से मध्य एवं उच्चस्तरीय गौर वर्ण के महिलाओं ने भाग लिया था । उन्होंने मुख्यतः राजनैतिक और अर्थनैतिक अधिकारों की मांग की ; जिसमें 'मतदान' एवं 'आर्थिक स्वतंत्रता' प्रमुख थी । नारी-जागरण तथा नारी-आंदोलन के लिए प्रस्तुत चरण का योगदान सदेव स्मरणीय तथा उल्लेखनीय रहेगा ।

द्वितीय उत्थान का समय सं 1960 से लेकर सं 1980 तक माना जाता है । आंदोलन के द्वितीय चरण में महिलाओं ने मतदान के अलावा सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में भी सम-अधिकार की मांग उठायी । साथ ही महिलाओं ने अपने विचारों को भी इस चरण में खुलकर रखा । नारियों के हृदय में पितृसत्तात्मकता के प्रति जो क्षोभ था, उसका सीधा प्रतिफलन इसी पड़ाव में परिलक्षित होता है । नारी के एक वर्ग ने पुरुष का मानो वर्जन ही कर दिया था । 'सिमोन द वोवर' का नाम इसी श्रेणी में लिया जाता है । नारी-जागरण में इस चरण का महत्त्व अत्यधिक माना जा सकता है । इसने नारी जागरण को कई दिशाएँ प्रदान किया ।

सं 1990 के प्रारम्भ से तृतीय उत्थान के लक्षण सामने आने लगे । तृतीय चरण तक आते आते नारी-जागरण पूरे विश्व में फैल चुका था । तब नारी ने समाज व संस्कृति के साथ साथ राजनैतिक दिशा में भी अपनी स्थिति को लेकर सजग होने लगे । सशक्त नारियों ने राजनीति में हिस्सा लेना शुरू कर दिया था । जो अब भी बरकरार है और इसकी गूंज आनेवाली भविष्य तक गूँजती रहेगी । जिन महान नारियों ने नारी-जागरण की इस दीपक को अपने प्रतिकूल परिस्थितियों में रहकर जलाया है, उन्हें समग्र नारी जाति सदेव गर्व से स्मरण करेंगी।

1.2.2. भारतीय पृष्ठभूमि:

पाश्चात्य में उत्पन्न होने वाली इस अभूतपूर्व नारी जागरण को सम्पूर्ण विश्व ने सराहा; भारतवर्ष में भी इस आंदोलन को अपनाया गया । बच्चन सिंह जी ने इस बात को स्पष्ट करते हुए कहा हैं, "किन्तु स्त्री-मुक्ति आंदोलन और स्त्रीवादी चेतना के फलस्वरूप नारी जीवन में एक नयी ऊर्जा दिखाई पड़ी, एक नया उन्मेष आया । इसका प्रभाव दुनिया-भर की लेखिकाओं पर पड़ा" [8] वर्षों से नारी के चलती आ रही विविध प्रकार के अन्याय एवं शोषणों के खिलाफ आवाज़ उठने लगी। वर्षों से भारतवर्ष में सतीदाह प्रथा चली आ रही थी । एक स्त्री के लिए उसका पति ही ही उसका सर्वस्व है, पति नहीं तो वह भी नहीं । इसीलिए पति के मृत्यु के बाद उस स्त्री का जीवन धारण करना निरर्थक है, अतः उसे भी पति के साथ साथ मृत्यु को

अपना लेना चाहिए । पति के चिता के साथ एक जीवित स्त्री को भी जिंदा जला दिया जाता था । जिसे बात की कल्पना मात्र से किसी भी व्यक्ति का रोम रोम काँप उठता है; वेसी अमानवीयता को पुरुषप्रधान समाज में पुण्य माना जाता था और उस औरत को पवित्र माना था । ऐसी पवित्रता का भला क्या सार्थकता हो सकती है, जो मनुष्य को मनुष्य की तरह रहने ही न दे !! इसे हम नारी-शोषण का सबसे बड़ा उदाहरण मान सकते हैं, वही पुरुषों के स्वस्थ एवं शील समाज का आधार था । उल्लेखनीय यह है कि ऐसे उदाहरणों का कही भी उल्लेख नहीं मिलता है कि जहाँ पत्नी के मृत्यु के बाद पति को जलाया जाता हो या फिर उसे मरने के लिए धार्मिक रूप से डरा-धमकाकर बाध्य किया गया हो कि वह किसी दूसरे स्त्री के साथ बात तक नहीं कर सकता है । धर्म के नाम पर सदा केवल स्त्रीओं की ही बलि ही क्यों चढ़ाई जाती थी ? यह पुण्य का ठेका पुरुषों के लिए क्यों प्रयुक्त नहीं होता था ? ऐसे विविध प्रश्नों का उत्तर आज भी नहीं मिले हैं । विविध इतिहासकर तथा पाश्चात्य विद्वानों के ग्रथों में इस अमानवीय प्रथा का उल्लेख मिलता है । खैर, धीरे धीरे इसका विरोध शुरू हुआ । प्रथम अवस्था में दो-एक हिन्दू पंडितों ने इस प्रथा विरोध किया था । मोगलों के कई सम्रातों ने इस जघन्य प्रथा का विरोध किया था । वे इसे सम्पूर्ण रूप से बंध तो नहीं करा सके, परंतु विविध उपायों से उन राजाओं ने सती-दाह प्रथा को नियंत्रण करने के लिए कोशिश ज़रूर की थी । हुमायूँ ने इसके खिलाफ़ राज-आज्ञा जारी की थी, अकबर ने भी अनिच्छुक स्त्रिओं को दाह करने की प्रथा को बंध कराना चाहा था । जहांगीर ने केवल बाधा ही नहीं दी थी; अपितु उन्होंने इस नियम को उलंघन करनेवालों को सजा भी दी थी, यदि कोई विधवा सती न होती तो उन्हें विविध उपहार एवं धन की प्रतिश्रुति देते थे । "ऐसा जाना जाता है कि सं॰ 1620 में जहांगीर ने सती को निषिद्ध किया था । औरंगजेब ने सं. 1669 में सती के बिरुद्ध निषेधाज्ञा जारी करते हुए बहुत से नारियों का जीवन उद्धार किया था, परंतु वह भी विशेष फलदायक न बन सका।"[9] 18 वीं शताब्दी के बाद मराठी राज्यों में सतीदाह को निषिद्ध घोषित कर दिया गया था । भारत में सतीदाह के विरुद्ध सबसे कामियाब सफर अंग्रेजों का रहा हैं । उनके आने के उपरांत भारत की युवा पीढ़ी पश्चिम की उदारताओं के

साथ परिचित होने लगी और पुराने तथा परंपरागत मान्यताओं को ज्यों की त्यों ग्रहण करने से इंकार करने लगे । अंग्रेजों ने सम्पूर्ण भारत में अपने स्वार्थ के लिए ही सही शिक्षा का प्रचार चलाया था । परंतु उनके इस कदम ने भारत के अँधियारे कोनों में रोशनी भर दी थी । उन्हीं की प्रचेष्टा से सती दाह प्रथा पर धीरे धीरे रोक लगाये जाने लगे, इसमें तत्कालिन भारतीय युवा पीढ़ी भी शामिल है । डॉ प्रदीप जी के शब्दों में, "परतंत्र भारतीय समाज में नारी के जीवन को अभिशप्त करने वाली अनेक कुप्रथाएँ विद्यमान थीं । इस दिशा में सबसे पहले राजा राममोहन राय ने 1829 में सती-प्रथा निषेध कानून पारित करवाकर सुधार-कार्यों का श्री-गणेश किया ।"[10] भारत के महान विदुषीगण जैसे राममोहन राय, दयानंद सरस्वती आदि तथा असम प्रांत के गुणाभिराम बरुआ, हेमचन्द्र बरुआ आदि ने सती दाह प्रथा का विरोध करने के साथ ही साथ स्त्री-शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार का दायित्व भी उठाया था । इतना ही नहीं इन युवाओं ने 'विधवा विवाह' का समर्थन करते हुए 'वाल-विवाह' का भी विरोध किया था । पति के मृत्यु के बाद एक स्त्री को ताउम्र विधवा बनकर पति के नाम की माला जपना होगा तथा ईश्वर की साधना में अपने आपको लीन करना होगा । उसके मन में दुवारा विवाह का ख्याल आना भी एक प्रकार का 'महापाप' माना जाएगा । परंतु दूसरी और पुरुषों पर यह नियम लागू नहीं होता है, पत्नी के मृत्यु के उपरांत वे चाहे तो दूसरा-तीसरा विवाह कर सकते हैं। भाई वाह...क्या नियम बनाए गए हैं हमारे समाज में !! उस समय ज्यादातर लड़कियों का वाल-विवाह हो जाया करता था, और उनके पतिदेव उनसे दुगने-तिगुने उम्र के होते थे, फलस्वरूप वे जवानी से पहले ही विधवा हो जाते थे और तब से लेकर बुढ़ापे तक उनको वेसे ही रहना पड़ता था, जो सरासर अन्याय था। इन सारी कुप्रथाओं का खंडन करके वाल-विवाह तथा सती दाह प्रथाओं का निषिद्धिकरण तथा विधवा-विवाह और स्त्री शिक्षा के प्रचार में भारत के तत्कालीन सजग युवाओं का बहुत बड़ा योगदान रहा है। ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने अनेक प्रयत्नों के उपरांत सन 1960 में एक अधिनियम पारित करवाया था; जिसके अनुसार किसी लड़की की आयु विवाह के समय कम से कम दस साल होनी चाहिए थी । वर्तमान समय में यह अधिनियम साधारण प्रतीत होगा; परंतु

उस समय यही अधिनियम उस मासूमों के लिए आशीर्वाद स्वरूप था, जिन्हें उससे भी कम आयु में ब्याहा जाता था ।

यूरोप के 'वुमन लिभ मूवमेंट' का सीधा प्रभाव भारत में भी परिलक्षित होता है । भारत के नारी आंदोलन को दो प्रमुख स्थितियों से गुजरना पड़ा था । जिसको डॉ. प्रदीप श्रीधर ने इस तरह बाँटा हैं- प्रथम स्थिति या शैशव काल (उद्भव काल से 1930 तक) एवं द्वितीय स्थिति अर्थात यौवन काल(1930 से लेकर अबतक)। प्रथम चरण में नारी ने पुरुषों की सहायता से संघर्ष किया और दूसरे चरण में वे स्वयं मैदान में उतरकर आयी । निश्चित रूप से द्वितीय चरण अधिक महत्वपूर्ण रहा हैं । देश के स्वतंत्रता आंदोलन को भारत के नारी जागरण की प्रथम सीढ़ी के रूप में देखा जा सकता है । महात्मा गांधीजी द्वारा स्वाधीनता संग्राम में नारी और पुरुष को दी गई समानता इस बात का प्रमाण है । नारी को घरों के बंधनों से मुक्त करने का संभवतः यही प्रथम प्रयास रहा है । क्योंकि इससे पहले तक कभी भी औरतों को घरों से लिकलकर खुलेआम मर्दों के समान घूमने अथवा किसी संस्था से जुड़ने की इजाज़त नहीं दी जाती थी । जाने कितनी वीरांगनाएँ इस संग्राम में शहीद भी हो गयी, परंतु उनमें से कुछ को छोड़कर जाने कितनों को आज तक उनको उचित सम्मान भी नहीं मिला है ! भारत के अन्य प्रान्तों के साथ साथ असम में भी नारी-पुरुष दोनों ने मिलकर स्वाधीन भारत का स्वप्न रचा था । असम की तरुणी कनकलता, जो महज 16 साल की थी, उसने स्वतंत्रता संग्राम में देश के लिए अपनी प्राणों की आहुति दी थी । भारत के नारी जागरण की इस यात्रा में जिन महान व्यक्तियों का योगदान रहा है, भारत की सभी स्त्रीयाँ सदैव उन सब के प्रति आभारी रहेंगी । इसके बाद से धीरे धीरे समाज, साहित्य, अर्थनीति एवं राजनीति- इन सभी में नारी ने अपना कदम रखना शुरू किया; और उसका आज नतीजा सबके सामने हैं । इन सब कार्यों में महात्मा गांधी के चिंतन व दर्शन का भी प्रभाव परिलक्षित होता हैं ।

1.3. साहित्य व उपन्यासों में नारी:

सम्पूर्ण विश्व में नारी-जागरण तथा नारी मुक्ति आंदोलन के तहद जो भी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो रही थी, उनका प्रभाव सीधे विश्व साहित्य पर पड़ा । या फिर यह भी कहा जा सकता है की तत्कालीन परिस्थितियों के चलते विद्वानों ने जो ग्रंथ लिखे; उसी से नारी-मुक्ति कि गूंज दूर-दूर तक गूंजी । यूरोप के रोज़मारी टोंग, जॉन लॉक, मेरी वोल्स्तोनेक्राफ्ट, जॉन स्टुआर्ट मिल, सिमोन डि बेऔवौर आदि विद्वानों का नाम उल्लेखनीय है । वही भारत में भी कई अंग्रेज़ विद्वानों के साथ साथ राजा राममोहन राय, दयानंद सरस्वती आदि विद्वानों ने तत्कालीन परिस्थिति का चित्रण किया था ।

भारत के हिन्दी तथा बंगला साहित्य सबसे पहले नारी का सशक्त रूप इन उभारा गया हैं । भारतवर्ष के अन्यतम लोकप्रिय धर्मग्रंथ 'रामायण' की अन्यतम नायिका थी माता 'सीता' की बहन 'उर्मिला', जो लक्ष्मण की पत्नी थी । अपने वैवाहिक जीवन में उन्हें जो दुख व पीड़ा मिली थी, पूरे ग्रंथ में वह शायद ही अन्यकिसी नारी को मिली होगी । परंतु उस नारी को साहित्य में कभी उचित सम्मान नहीं मिला था । मैथिलीशरण गुप्त जी ने सर्वप्रथम बार के लिए अपने महाकाव्य 'साकेत' में सदा से उपेक्षित 'उर्मिला' के दुखों को उजागर करते हुये उसे न्याय दिलाने की चेष्टा की । यह एक चिंता की शुरुवात थी । इसी तरह से अन्य ऐतिहासिक नारी पात्रों को महत्त्व मिलने लगी। जिनमें से 'यशोधरा' का नाम उल्लेखनीय है । हिन्दी के उपन्यास सम्राट प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में नारी को शक्तिमयी, ममतामयी आदि रूपों में प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की । उनके द्वारा रची गयी उपन्यास 'कर्मभूमि' में नायक की 'बहन' ने दलितों को न्याय दिलाने के प्रयास में अपने प्राणों की आहुति दे देती है । असमीया उपन्यासों का समय हिन्दी उपन्यासों से काफ़ी बाद रहा है । परंतु उसमें नारी चिंतन का समावेश लगभग शुरुवाती समय से ही रहा है । भवेन्द्रनाथ शइकिया तथा रजनीकान्त बरदोलोई आदि उपन्यासकारों ने 'नारी' के सनातन शक्तियों का चित्रण करते हुये उन्हें प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की थी । इस युग के पश्चात हिन्दी तथा असमीया दोनों ही भाषाओं के क्षेत्र में महिला साहित्यकारों का आविर्भाव हुआ । लेकिन यहाँ इन सब से यह तात्पर्य नहीं निकलता है कि, तब तक नारी ने

साहित्य सर्जन नहीं किया था, अथवा उपन्यास, कविता आदि की रचना नहीं की थी । अपितु इसका तात्पर्य तो यह है कि तब तक 'नारी को अपने अधिकारों से, उनकी अस्मिता से परिचित कराने वाले विधा एवं उनके व्यथा को समझने वाली साहित्यिक विधा की शुरुवात नहीं हुई थी । तब तक हिन्दी व असमीया साहित्य जगत में नारी का चित्रण परंपरागत रूप में हो रहा था । महिला लेखिकाओं ने नारी के दुख- दर्दों का चित्रण तो किया था, परंतु उनमें विद्रोह की भावना नहीं थी, अधिकारों कई चेतना नहीं थी; उनमें घुटन और शंका थी और साथ ही समाज का डर भी था । अंत तक आते आते वे इतिहास को सही ठहराते हुये सहनशीलता की मूर्ति बन पितृसत्तात्मकता में विलीन हो जाती थीं । हिन्दी व असमीया दोनों भाषाओं के लेखिकाओं ने नारी के अन्तर्मन मन को तो समझा; परंतु उनको पर्याप्त न्याय दिलाने में समर्थ नहीं हो पायी ।

स्वतंत्रता के बाद स्थिति में परिवर्तन आने लगा । जब कोई मनुष्य अपनी वास्तविकता तथा परिस्थितियों से रूबरू हो जाते है, तब अंतरात्मा से आवाज़ आती है । यथार्थ के छवियों ने लेखिकाओं को जागृत किया और विद्रोह की परंपरा चल पड़ी । 'नारी' को अपने अधिकारों के प्रति सचेत करने के लिए उनमें शिक्षा का प्रचार होना अत्यंत आवश्यक था । अतः प्राय सभी सशक्त लेखिकाओं ने अपने उपन्यासों में 'स्त्री-शिक्षा' की मांग की तथा उसका प्रचार किया । आज समाज में जहाँ नारी-पुरुष के समानता को लेकर बड़े बड़े नारे लगाए जाते है ; उसी समाज में आज भी कही कही लड़की को पैदा होते ही मार दिया जाता है । शादी के लिए उसे उच्च शिक्षा से वंचित किया जा रहा है, दहेज के नाम पर खुलेआम उन मासूमों की हत्या हो रही है । सवाल यह है कि, "अगर मारना ही था तो फिर समानता के उन नारों, वक्तव्यों, टिप्पणी आदियों की जरूरत ही क्या थी" । एक ओर जहाँ 'नारी', 'नारी' के सुरक्षा के लिए कलम उठाकर अपनी आवाज़ बुलंद कर रही हैं, उसकी ताकत, उसका हौसला बनने जा रही हैं , वही दूसरी ओर एक श्रेणी के नारीयों के मन में बसे परंपरागत सोच ने इस विद्रोह में बाधा भी उत्पन्न किया है । इसे उन औरतों कि कमजोरी, मज़बूरी भी समझ सकते हैं और शायद किसी हद तक उनकी ईर्षा भी

। लड़की की भ्रूण हत्या करनेवाली माताएँ व दहेज के लिए अपनी बहुओं को जलाले वाली सास तथा बेटी को कम उम्र में ही ब्याहाकर उनको उच्च शिक्षा से वंचित करनेवाली माताएँ इसी कोटि में आती हैं । वें न जाने क्यों अपनी बेटियों का भविष्य बिगाड़ रहे, उन्हें नहीं समझ रहे हैं, उनकी इच्छाओं का गला घोंट रही हैं ... आज की सशक्त लेखिकाएँ ऐसे ही बहुत सारें सवालों का जबाब ढूंढने निकली हैं । उनके उपन्यासों में ऐसे तमाम पहलुओं की चर्चा होती है और साथ ही नारी को प्रमुख बिंदु बनाकर इस समस्याओं का हल भी खोजा जा रहा हैं ।

1.3.1.हिन्दी उपन्यासों में नारी:

हिन्दी कथा-साहित्य में नारी का चित्रण तो आधुनिक काल से ही शुरू हो चुका था । परंतु उसमें नारी को 'आदर्श भारतीय नारी' के रूप में ही सदैव वर्णित किया गया था । जब तक किसी महिला रचनाकार ने यह बीड़ा नहीं उठाई; अर्थात नारी के दुखों को अपने कलम से नहीं उतारा तथा उसको एक निश्चित परिभाषा नहीं दी थी, तब तक नारी की मनोदशा का सही वर्णन संभव नहीं हो पाया था । पुरुष लिख तो रहे थे, परंतु उनकी दृष्टि से, नारी के दृष्टि से नहीं । उसमें नारी के लिए सहानुभूति थी; समवेदना नहीं । 'नारी-संवेदना' को वे उभार नहीं पा रहे थे । उनकी नायिकाएँ अगर समाज में प्रतिष्ठित थी तो वह केवल पुरुषों के बलबूते पर । नारी सशक्त थी, अन्याय के खिलाफ़ आवाज़ उठाती थी परंतु वह अन्याय स्त्री के ऊपर न होकर पुरुषों के ऊपर होनेवाला अन्याय था । उसी अन्याय के दूसरी मोर पर खड़ी स्त्री के प्रति उनका वर्ताव होता था हृदयहीन । खैर, जो भी हो; धीरे धीरे महिलाओं ने लिखना प्रारम्भ किया, देर से ही सही; नारी-मन को समझने का एक नया सिलसिला शुरू हुआ । जहाँ 'नारी' ने एक दूसरे 'नारी' को अन्तर्मन की चक्षु से देखने का प्रयास किया और उसके तमाम दुखों को महसूस किया । तभी से उन पर हो रहें अन्याय-अत्याचारों के खिलाफ़ आवाज़ उठने लगी । इस बात को स्पष्ट करते हुए रामचंद तिवारी जी कहते है कि, "यों तो प्रेमचन्द-युग में ही हिन्दी-कथा-रचना के क्षेत्र में महिलाओं का प्रवेश हो चुका था, किन्तु स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद नारी-जागरण और स्त्री-शिक्षा

के व्यापक प्रचार-प्रसार के फल-स्वरूप इस क्षेत्र में रचनाकारों की एक सशक्त पीढ़ी का उदय हुआ" [11] तभी से यह अध्याय शुरू हुआ; पितृसत्तात्मक समाज के परंपरागत नियमों को तोड़कर स्त्री ने जब स्वतंत्र रूप से जीने की कोशिश की, तब उस पर हज़ार सवाल उठने लगे...कई तरह की बातें बनने लगी, यहाँ तक कि उसे चरित्रहीन तक कह दिया गया; वह चरित्र जो परंपरागत समाज ने उसे प्रदान किया था, जिसमें पुरुषों के सेवा के बिना और कुछ सोचने तक की फुरसत नहीं थी । वह चरित्र जो सदा पुरुषों द्वारा बनाए गए नियमों कि अनुगामिनी रही हो, कभी अपने अधिकारों के प्रति सजग न रही हो; वही स्त्री अगर अपने अधिकार मांगने लगे, अपने लिए कुछ सोचने लगे, तब वह चरित्रहीन बन जाती हैं !! बड़े आश्चर्य की बात है कि हमारे समाज में न्याय दिलाने के क्षेत्र में भी पक्षपात किया जाता हैं !!

प्रेमचंद युग से ही महिलाओं ने लिखना शुरू कर दिया था। परंतु वहाँ तब उन संवेदनाओं को समावेश नहीं हो पा रहा था, जिनका सबके सामने उभरकर आना अत्यंत आवश्यक हो उठा था । स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद तथा स्त्री शिक्षा के व्यापक प्रचार-प्रसार अभियान के फलस्वरूप हिन्दी कथा साहित्य तथा उपन्यास में एक सशक्त महिला-कथाकारों की पीढ़ी का उदय हुआ, जो कुछ इसप्रकार हैं- दिनेशनंदिनी डालमिया (1922-2006 ई॰), शशिप्रभा शास्त्री (1923-2000 ई॰), शिवानी (1923-2003 ई॰), कृष्ण सोबती (1925 ई॰), मनु भंडारी (1931 ई॰), ऊषा प्रियंवदा (1931 ई॰), राजी सेठ (1935 ई॰), मृदुला गर्ग (1938 ई॰), ममता कालिया (1940 ई॰), महरुन्निसा परवेज (1944 ई॰), चित्रा मुद्गल (1944 ई॰), मृणाल पाण्डेय (1946 ई॰), आदि हिन्दी कथासाहित्य के कुछ ऐसे उपन्यासकर हैं, जिनका महत्त्व स्त्री-कथा साहित्य में उल्लेखनीय हैं । इन सभी महिला कथाकारों ने नारी-हृदय की व्यथा को विविध पात्रों के माध्यम से पाठकों के सामने प्रस्तुत किया हैं । इनके अतिरिक्त पिछले कुछ वर्षों में इस क्षेत्र में कुछ ऐसे सशक्त उपन्यासकारों ने हिन्दी कथा साहित्य में कदम रखा है तथा जिन्होंने समालोचकों का ध्यान आकृष्ट किया है और पाठकों को सोचने पर मज़बूर कर दिया है । इनमें- चित्रा चतुर्वेदी (1939 ई॰), प्रभा खेतान (1942 ई॰), मैत्रेयी पुष्पा (1944 ई॰), गीतांजली श्री (1957 ई॰), अलका

सरावगी (1960 ई॰), रजनी गुप्त (1963 ई॰) आदि प्रमुख हैं । उपर्युक्त कथाकारों के साहित्य में पदार्पण से नारी चिंतन को एक नई दिशा प्रदान की है । इनकी नायिकाओं ने समाज के परम्पराओं का विरोध किया तथा उन्होंने अपने हक के लिए आवाज़े भी उठायी और दूसरे औरतों को भी उनके अधिकारों के प्रति सजग कराया । *जिंदेगीनामा* (1979) और *सूरजमुखी अंधेरे के* (1972)-यह दोनों कृष्णा सोबती की सबसे चर्चित कृति रहीं हैं । *सूरजमुखी अंधेरे के* में नारी जीवन की दुखों का मनोवैज्ञानिक चित्रण हुआ है । *जिंदेगीनामा* को पंजाब के तत्कालीन समय का इतिहास माना गया है; जहाँ नारी की स्थिति का बहुत ही मार्मिक और सजीव वर्णन प्रस्तुत किया गया है । ममता कालिया भी सशक्त लेखिकाओं की श्रेणी में आती है, *बेघर* (1971), *नरक-दर-नरक* (1975), *प्रेम कहानी* (1980) आदि उनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं । *बेघर* में पुरुषतांत्रिक मानसिकता पर व्यंग किया गया है, *नरक-दर-नरक* में आज की खोखली समाज व्यवस्था में पिसती स्त्री की दुखों का वर्णन हैं । मेहरुन्निसा परवेज के उपन्यासों में भी नारी की व्यथा का चित्रण मिलता है, *आँखों की दहलीज* (1969), *उसका घर* (1972), *अकेला पलाश* (1981) आदि उनके चर्चित उपन्यास रहें हैं । चित्रा मुद्गल ने विज्ञापन-क्षेत्र में नारी पर हो रहे शोषण व अन्यायों के बारें लिखा है । उनका उपन्यास *एक अपनी जमीन* (1990) में नारी की अन्तर्मन की व्यथा का उजागर हुआ है । प्रभा खैतान और मैत्रेयी पुष्पा का नाम भी इस क्षेत्र में चर्चित हैं । दोनों की रचनाओं में स्त्री के ऊपर होनेवाले शोषण का मार्मिक चित्रण हुआ हैं । हालाँकि अब भी इन लेखिकाओं पर यह आरोप लगाया जाता है कि 'स्त्री-विमर्श' कुछ नया नहीं है, यह तो पहले से चलता आ रह हैं, अब कौन सा नया तीर मार लिया उन लोगों ने...इनमें से बहुतों को शाबाशी मिली तो बहुतों को हेय दृष्टि से देखा गया । फिरभी इन कथाकारों ने अपनी कलम नहीं छोड़ी । इनकी नायिकाएँ न तो डरपोक हैं और न ही कमजोर । यें तो सृष्टि की आदिरूपा है; जो अपनी समस्त शक्तियों के साथ नारी के ऊपर हो रहें अन्याय को मिटाने का प्रण लिए रणभूमि में उतरी हैं । अब तो देखना यह है कि, यें जीत पाती है या नहीं ?

1.3.2. असमीया उपन्यासों में नारी:

असमीया साहित्य में उपन्यास विधा का प्रारम्भ आधुनिक युग से ही माना जाता है । उपन्यास विधा के प्रारम्भ से नारी के केंद्र में आने लगी थी, चित्रण तो था परंतु नारी की दृष्टि से कभी उन परिस्थितिओं को नहीं देखा गया । जो कुछ वर्णित हुआ था, उनमें शाश्वत नारी व भारतीय नारी का रूप ही परिलक्षित होता था । नारी को परंपरागत पोशाक पहनाकर ही लोग संतुष्ट थे, उनके दुखों को समझने वाले तो थे, परंतु उन दुखों को मिटाने वाला कोई न था । समाज व उसके नियम नारी के दुखों को उसका भाग्य करार देते हुए चुप्पी साधे बैठ जाते थे । सही अर्थ में कहा जाये तो बीसवीं सदी के बाद से असमीया उपन्यासों में नारी मन को समझने का प्रयास परिलक्षित होता है । उससे पहले के उपन्यासों में नारी को पतिव्रता-सती तथा 'आदर्श भारतीय नारी' बनने की सीख दी जा रही थी । उल्लेखनीय बात यह है कि, 'नारी भावना' का उलेख कहे या नारी मन का चित्रण; जो भी हो उसे सर्वप्रथम एक महिला उपन्यासकर द्वारा ही सामने लाया गया था । 'पद्मावती फुकनोनी' द्वारा लिखी गयी *सुधर्मा के उपाख्यान* में सबसे पहले इसका चित्रण मिलता है । यद्यपि उन्होंने शाश्वत नारी को अंत में स्थापित किया है, फिर भी असमीया  साहित्य में वह उपन्यास अपना एक अलग महत्त्व रखता है । उनके बाद 'रजनीकान्त बरदोलोई', 'दंडिनाथ कलिता' आदि ने अपने उपन्यासों में नारी को प्राधिकार दिया । रजनीकान्त जी की एतिहासिक उपन्यास *रहदोई लिगीरी* में नायिका 'रहदोई' को उपन्यास के अन्य सभी पुरुष पात्रों से ऊँचा स्थान दिया है । उनकी नायिका इतनी गुणवान है कि प्रदेश के राजा ने भी उनके व्यक्तित्व को सबसे श्रेष्ठ समझा। 'रहदोई' अपने लिए लड़ सकती थी,  इससे एक बात तो स्पष्ट हो जाती है कि उस जमाने भी नारी अपने ऊपर होने वाले अन्याय, अत्याचारों के खिलाफ थी। पुरुषों से हीन समझे जाने वाली प्रवृत्ति उन्हें तब भी खटकती थी। दंडिनाथ कलिता की रचना *साधना* में उन्होंने स्त्री-शिक्षा का तो समर्थन किया, परंतु उसको सफल बनाने के लिए पुरुषों का साथ होना अनिवार्य बताया । सम्पूर्ण उपन्यास में उन्होंने नारी-स्वतंत्रता का समर्थन करते हुये भी नारी को पुरुषों से कमजोर तथा उनके अनुगामिनी प्रमाणित करने की चेष्टा की है ।

असमीया साहित्य में अब तक नारी-मन को समझने की प्रथा में उपन्यासकार 'चंद्रप्रभा शइकियानी' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, क्योंकि सबसे पहले इन्होंने ही पुरुष तंत्र के खिलाफ़ आवाज़ उठाई । चंद्रप्रभा ने नारी की समस्याओं का चित्रण किया था, परंतु नारी को उचित एवं सही कहलाने की हिम्मत वह नहीं कर पायी थी । उन्होंने अपने उपन्यास *पितृ-भिठा* में नारी हृदय की व्यथा को तो समझा, लेकिन उसे न्याय नहीं दिला पायी । अपने उद्देश्य में वे सफल नहीं हो पायी । अपने वास्तव जीवन में कांग्रेज़ की सक्रिय सदस्य रहनेवाली चंद्रप्रभा उपन्यास के प्रारम्भ में तो अपने नारीवादी स्थिति में दृढ़ थी । 'पितृभिठा' की नायिका 'माधबी' अपनी अस्मिता को लेकर सजग थी, वह किसी भी हाल में अपने पुरुखों के जमीन को वापस पाना चाहती है; और उसे प्राप्त भी कर लेती है । परंतु पता नहीं क्यों उपन्यास के अंत तक आते आते वे अपने आदर्श से डगमगाती हुई पुरुष सत्ता पर निर्भरशील होती परिलक्षित होती है । जो भी हो, प्रस्तुत उपन्यास का असमीया साहित्य में बहुत महत्त्व है; यहाँ रचनाकार ने तत्कालीन असम की महिलाओं की स्थिति का वर्णन किया है तथा बहुत ही सूक्ष्म रूप से उन की संवेदनाओं को परखने की चेष्टा की है । उनके बाद 'पद्मनाथ गोहाई बरुआ' तथा 'बिरिंछी कुमार बरुआ' आए ; जिंहोने नायिका प्रधान उपन्यास तो रचें, परंतु खुलके नारी का समर्थन नहीं किया । नारी की तत्कालीन दुखद स्थिति का परोक्ष चित्रण के अलावा कुछ नहीं कर पाये । उनके बाद आए 'बीरेद्र कुमार भट्टाचार्य' और 'भवेन्द्रनाथ शइकिया'; इन दोनों के उपन्यासों की सबसे खास बात यह रही है कि, उनके उपन्यासों की नायिकाएँ अपनी इच्छा से जीने की कोशिश करती हैं और एक हद तक सफल भी हो जाती है । पुरुष तंत्र के खिलाफ़ वे मौन विद्रोह करती हैं तथा उनके अहं को एक करारा जबाब देने में सफल होती हैं ।

लगभग 1970 के बाद असमीया साहित्य में 'स्त्री साहित्य' ने एक नया मोर लिया। सही मायने में 'नारी संवेदना' को जगाने का सबसे पहला प्रयास 'निरुपमा बरगोहाई' ने किया था । उनके उपन्यास *अन्य जीवन, चंपावती, अभियात्री* आदि में हर क्षेत्र में नारी- पुरुष की समानता की बात सामने आती है । उनकी नायिकाओं ने वर्षों से चलती आ रही परंपरागत प्रथाओं का भी

तीव्र विरोध करते हुये उनपर तीखा व्यंग भी किया हैं। उनका 'अन्य जीवन' नामक उपन्यास नारी के द्वितीय सत्ता का द्योतक है । गोविंद प्रसाद शर्मा जी लिखते है, " नारी 'आत्म' न होकर 'अन्य' है- नारिवाद की यह धारणा यहाँ भी स्पष्ट हो उठी । उपन्यास का शीर्षक *अन्य जीवन* भी यही दर्शाता है।" [12] निरुपमा जी का मानना है कि जीवन के अन्य क्षेत्रों के साथ साथ विवाह के मामले में भी पुरुष की मान्यता नारी से ऊँची नहीं होती है । उनकी नायिकाएँ उनके मतों का समर्थन करती हुई एक नई चिंता की शुरुवात करती नज़र आती हैं । उनके द्वारा लिखा गया उपन्यास *अभियात्री,* 'नारीवादी' स्त्री एवं लेखिका चंद्रप्रभा शइकियानी के जीवन पर आधारित है । जिसे हम सम्पूर्ण नारीवादी उपन्यास मान सकते हैं । जहाँ पर उन्होंने चंद्रप्रभा के विद्रोही एवं स्वाधीन मन का सूक्ष्म तथा सटीक वर्णन किया है । इनके बाद आती है ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त 'मामोनि रायसम गोस्वामी' जी। जिनके उपन्यासों में असम के तत्कालीन समाज में स्त्री की करुण स्थिति के वर्णन के साथ साथ भारत के विभिन्न प्रांत के नारियों की मार्मिक गाथाओं का चित्रण भी परिलक्षित होता हैं। उन्होंने विशेषतः विधवाओं के करुण स्थितियों का मार्मिक चित्रण किया है । जहाँ जीती-जागती स्त्रीओं पर होने वाले अत्याचारों का पर्दाफास किया गया है । मंजुमला दास कहती हैं, "पुरुषप्रधान समाज में सभी रीति-रिवाज, विधि-निषेध पुरुषों के द्वारा ही निर्धारित होते हैं । यें सभी उनके द्वारा परिचालित और नियंत्रित होते हैं । युगों से नारी समाज भी ऐसे रीति-रिवाजों को ही संस्कार के रूप में मानती आई हैं । इन संस्कारों से मुक्त हुए बिना नारी की मुक्ति संभव नहीं- मामोनी रयसम गोस्वामी ने अपनी लेखनी के माध्यम से प्रत्यक्ष रूप से न सही परंतु परोक्ष रूप से यही कहने का प्रयास किया है।"[13] उनकी नायिकाओं ने प्रतक्ष्य तथा परोक्ष दोनों रूपों में अंत तक पुरुषों के शोषणों का विद्रोह किया हैं । साथ ही उनके उपन्यासों में अन्याय के खिलाफ़ आवाज़ उठानेवाली मजदूर नायिकाओं भी थी । जो केवल श्रम से अपना पेट पालती है; जिनके ऊपर अमानुषिक अत्याचार होते है । अतः देखा जाता है कि मामोनि जी के उपन्यासों में नारी-संवेदना मुखर हो उठी थी और जिसकी गूंज आज की लेखिकाओं के द्वारा दूर तक फैलाया जा रहा हैं । इनके बाद 'अरुपा

पतंगीया कलिता', 'तिलोत्तमा मिश्र', 'पुरबी बरमूदोई', 'रत्ना दत्त', 'रीता चौधुरी', 'अनुराधा शर्मा पुजारी' 'आराधना गोस्वामी', 'मणिकुन्तला भट्टाचार्य', 'जूरी बरा बरगोहाई', आदि नवीन लेखिकाओं ने नारी संवेदना को एक नया आयाम देने का प्रयास किया हैं । इनकी नायिकाएँ सशक्त, आधुनिका होने के साथ साथ बुद्धिमती भी हैं । इन्हें हर हाल में अपनी अस्मिता को बरकरार रखना हैं तथा अपना अधिकार प्राप्त करना ही हैं । ये सब परिस्थितियों से डरती नहीं हैं; बल्कि उसका डटकर सामना करती हैं, अन्याय अत्याचार, शोषण आदि का तीव्र विरोध करते हुई समाज के बाकी स्त्रीओं के मन में अधिकार की भावना को जागृत कराना चाहती हैं । ये शक्तिरुपा होने के साथ साथ समाज के कल्याण के बारें में भी सोचती हैं । समाज में चल रही बेमाने की परम्पराओं को तोड़ती हुई आगे बढ़ती हुई अपने आप को प्रतिष्ठित करती हैं और इसलिए वे विवादास्पद भी हैं । बहरहाल, स्थिति यह है कि सदियों से जो दर्द नारी के हृदय में छिपी थी, वह उभरकर बाहर आने लगी । अब बिना किसी संकोच से वे अपनी मन की बात कहने लगी है । वर्षों से मौन रहकर जब उन्हें केवल दुख ही मिला, तो अब उन सब ने चुप्पी साधना छोड़ दिया हैं और साथ ही साथ डर डर से जीने से अपने आप को मुक्त कर दिया हैं । अब देखना यह है कि यें स्वतंत्र रूप से जी पाती हैं या नहीं ??

अरविंद जैन ने खूब कहा है, "पितृसत्ता के इस चक्रव्यूह को तोड़ने के लिए स्त्रियों ने जितना विरोध-प्रतिरोध किया है, उन पर उतना ही अधिक दमन, हिंसा और अत्याचार बढ़ता गया हैं।" 14 जब जब स्त्री ने अपना हक़ मांगा, उन्हें तानें सुनने पड़ते हैं, अत्याचार और शोषण के अनगिनत कष्टों का सामना करना पड़ता हैं । आज भी वह लड़ रही है, झगड़ रही हैं; कही पर आवाज़ों को दफनाया जाता है, कही पर उसे चुप रहने के लिए मजबूर किया जा रहा हैं । ज़्यादातर विवाहित पात्रों में यह बात अधिक लागू होती हैं । उनके घरवाले अथवा उसका पति उसे बच्चों के नाम पर, मायके के नाम पर दबाव डालते रहते हैं । कहने को तो नारी कब के स्वतंत्र हो चुकी; परंतु भारत की नारियों को वह स्वतंत्रता आज भी नहीं मिल पा रही हैं । पाश्चात्य-समाज में नारी की स्थिति में जो सुधार आया हैं; उसकी कल्पना भी भारत की

महिलाएँ नहीं कर पाती हैं !! क्योंकि कल्पना करने मात्र से उसपर 'पाप' चढ़ जाता है, वह 'कुलटा', 'कुलक्षणी' आदि उपमाओं से सुशोभित कर दी जाती हैं । सभ्यता और संस्कृति की आढ़ में न-जाने कब तक समाज इन स्त्रीओं से उनका अधिकार छिनते रहेंगे !! मैत्रेयी पुष्पा और रीता चौधुरी के उपन्यासों में इन्हीं सारे दुखों का उजागर हुआ हैं ।

संदर्भ-सुंची:


1. प्रसाद, प्रो. कमला; शर्मा, राजेंद्र, (संपा) *स्त्री:मुक्ति का सपना,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय आवृत्ति-2009, पृष्ट. सं. 19
2. पुष्पा, मैत्रेयी, *सुनो मालिक सुनो,* वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली, 2006, पृष्ट. सं. 34
3. चतुर्वेदी, जगदीश्वर, *स्त्रीवादी साहित्य,* अनामिका पब्लिसर एंड दृष्टिव्यूटर, दरियागंज, नई दिल्ली, 2011, पृष्ट. सं. 02
4. चतुर्वेदी, जगदीश्वर, *स्त्रीवादी साहित्य,* अनामिका पब्लिसर एंड दृष्टिव्यूटर, दरियागंज, नई दिल्ली, 2011, पृष्ट. सं. 03
5. Tong, Rosemarie, *Feminist Thought*, University of North Carolina, Charlotte, 2009, पृष्ट. सं. 34
6. Wardle, Ralph M, (Ed.) *Collected Letters of Mary Wollstone-craft*, London 1978, पृष्ट सं. 345
7. Wollstonecraft, Mary, *A Vindication of the Rights of Woman*, London, 1955, पृष्ट. सं. 48
8. सिंह, बच्चन, *हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास,* राधाकृष्ण प्रकाशन, 2009 , पृष्ट. सं. 493
9. राय, विनयभूषण, *वांलारसतीदाहः सामाजिक उ अर्थनैतिक मूल्यांकन,* कलिकता, 1986, पृ॰19-20
10. श्रीधर, डॉ. प्रदीप, *स्त्री चिंतन की अंतर्धाराए और समकालीन हिन्दी उपन्यास,* तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली-2010, पृष्ट. सं. 13
11. तिवारी, रामचन्द्र, *हिन्दी का गद्य साहित्य,* विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1995, पृष्ट. सं. 259
12. शर्मा, गोविंद प्रसाद, *नारीवाद आरू असमीया उपन्यास,* प्रकाशन परिषद, गुवाहाटी, 2007, पृष्ट. सं. 90

13. भराली, शैलेन(सं.) *असमीया उपन्यासर गति-प्रकृति*, साहित्य अकादमी, कलकता, 2002, पृष्ट. सं.97

14. प्रसाद, प्रो. कमला; शर्मा, राजेंद्र,(संपा), *स्त्रीःमुक्ति का सपना,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय आवृत्ति-2009, पृष्ट. सं. 20